प्रथम संस्करण : १९८८ ई०
ISBN : 81-7124-019-4

मूल्य : 20.00

प्रकाशक
विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी
मुद्रक
शीला प्रिन्टर्स, लहरतारा, वाराणसी

प्रस्तुत कृति में हिन्दी के प्रसिद्ध समीक्षक डा० विनयमोहन शर्मा ने 'आँसू' की विस्तृत विवेचना की है। प्रारम्भ में लेखक ने प्रसाद पूर्व-युग की सम्पूर्ण आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों का विशद विश्लेषण प्रस्तुत किया है। प्रसाद साहित्य के अध्ययन में यह कृति विशेष रूप से सहायक सिद्ध होगी।

●

प्रथम संस्करण १९८८ ई०
ISBN : 81-7124-019-4

मूल्य रु 20.00

प्रकाशक
विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी
मुद्रक
शीला प्रिन्टर्स, लहरतारा, वाराणसी

प्रस्तुत कृति में हिन्दी के प्रसिद्ध समीक्षक डा० विनयमोहन शर्मा ने 'आँसू' की विस्तृत विवेचना की है। प्रारम्भ में लेखक ने प्रसाद पूर्व-युग की सम्पूर्ण आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों का विशद विश्लेषण प्रस्तुत किया है। प्रसाद साहित्य के अध्ययन मे यह कृति विशेष रूप से सहायक सिद्ध होगी।

●

प्रथम संस्करण १९८८ ई०
ISBN . 81-7124-019-4

मूल्य रु 20.00

प्रकाशक
विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी
मुद्रक
शील प्रिण्टर्स, लहरतारा, वाराणसी

प्रस्तुत कृति में हिन्दी के प्रसिद्ध समीक्षक
डा० विनयमोहन शर्मा ने 'आँसू' की
विस्तृत विवेचना की है। प्रारम्भ में
लेखक ने प्रसाद पूर्व-युग की सम्पूर्ण आधु-
निक काव्य-प्रवृत्तियों का विशद विश्लेषण
प्रस्तुत किया है। प्रसाद साहित्य के अध्ययन
में यह कृति विशेष रूप से सहायक सिद्ध होगी।

विषय-सूची

प्रवेश

आधुनिक कविता की पृष्ठभूमि पर 'प्रसाद' के कवि का यह निरीक्षण है। उन्होंने अपने अतीत को कितना ग्रहण किया, वर्तमान को कितना प्रभावित किया और भविष्य की एक स्वप्न-द्रष्टा की तरह कितनी कल्पना की; इन प्रश्नों का उत्तर इस कृति में खोजने की नम्र चेष्टा की गई है।

'प्रत्येक कलाकार अतीत का फल और भविष्य का बीज होता है'—यह एक आंग्ल आलोचक का प्रसिद्ध कथन है। 'प्रसाद' इसके अपवाद न थे। उन्होंने अपने 'अतीत' से—हिन्दी की प्राचीन काव्य-परम्परा से—बहुत कुछ आत्मसात् किया। उसी की भूमि पर खड़े होकर उनके कवि का स्वर मुखरित हुआ। ब्रजभाषा काव्य के माधुर्य से उनकी कल्पना के पर सिक्त थे। वर्तमान खड़ी बोली का संदेश लेकर उनको ओर निहार रहा था। कवि ने पुरातनवाद का 'चोला' शीघ्र ही फेंक दिया। उससे उन्हें इतनी विरक्ति हो गई कि आठ वर्ष पूर्व ब्रजभाषा में लिखे अपने एक काव्य को उन्होंने दुबारा खड़ी बोली में लिख डाला। पर खड़ी बोली के 'अक्खड़पन' को उन्होंने ग्रहण करने की चेष्टा नहीं की। बँगला और संस्कृत भाषा के अध्ययन का परिणाम यह हुआ कि उनकी रचनाओं मे 'कोमल-कांत पदावली' क्रमशः मुस्कराने लगी। 'प्रसाद' की भाषा के इसी गुण ने उन्हें सबसे आगे खींचकर खड़ाकर दिया। आध्यात्म-वाद की भावना हिंदी काव्य-साहित्य में आज की देन नहीं है—'प्रसाद' की भी नहीं। लौकिक-अलौकिकता का चक्र सदा से चलता रहा है।

काल 'अति' का संतुलन करता रहता है। हिन्दी साहित्य का इतिहास इस तथ्य की साक्षी देता है। बौद्ध, सिद्धों और नाथों के सूखे उपदेशकथन ने निर्गुणवादी संतों में भावना की एक लहर बहाई पर जब वह जनसाधारण को रस-प्यास बुझाने में समर्थ न हो सकी तब 'सगुण भक्तिवाद' लोक-भावना को अपनी ओर खींचने लगा, परन्तु सगुणभक्ति के प्रसिद्ध प्रतीक—राधाकृष्ण—ने इतनी व्यापकता ग्रहण की कि वे धीरे-धीरे किसी भी सलोनी स्त्री और सलोने पुरुष में झाँकने लगे। रीतिकाल भक्तिवाद के अतिरेक का ही परिणाम था। रीतिकाल को लौकिकवाद का युग कहना चाहिये। इस युग का काव्य किसी भी 'आलम्बन' में लौकिक विचारों की अभिव्यक्ति करता रहा है। आधुनिक युग ने लौकिकवाद-युग के अतिरेक के विरोध मे अपनी आँखें खोलीं। प्रारम्भ में उसमें 'बीती रात'

ी खुमारी का रहना स्वाभाविक था । अतः 'विकार' वे ही रहे पर अलौकि‍
ता की 'छाया' डालने का अभिनय अवश्य किया गया। (यह मैं नहीं कहता
क आधुनिक काव्य में आध्यात्मिकता प्रेरणा के रूप से मेरे बिलकुल नहीं है।
हने का आशय इतना ही है कि वह जहाँ है वहाँ इतने कम परिमाण में है कि
से युग की व्यापक भावना कहना आत्मप्रवंचना होगी।) यह कार्य भावों—
कारों—की अभिव्यञ्जना-प्रणाली विशेष के द्वारा किया गया, जो 'छायावाद'
नाम से पहचानी जाती है।

जड़वाद की इस शताब्दी में काव्य के चक्र का रूप सर्वथा 'अलौकिक' होना
व था भी नही। यही कारण है कि 'प्रसाद' के कवि में ऐसे क्षण बहुत कम
ये हैं जब वे अपने 'जड़' को भूल कर एकदम 'चेतन' में खो गये हों। हाँ,
'जड़' में ही इतने अधिक केन्द्रित हो सके हैं कि उसमें ही उन्होंने 'चेतन का
रोपकर उसका आध्यात्मीकरण' (Sublimation) कर दिया है। यही
र की महत्ता है और इसी से वे इतने लोकप्रिय हो सके हैं।

'आँसू' में 'लौकिक' के 'अलौकिक' सौन्दर्य ने 'वर्तमान' को खूब प्रभावित
ा। इस छोटे से काव्य का छन्द इतना अधिक प्रचलित हुआ कि स्व० पं०
थ उपाध्याय ने अपने 'नवीन पिंगल' में 'आँसू' की पंक्तियों के छन्द का
करण ही 'आँसू-छन्द' कर दिया। वास्तव में यह आनन्द छन्द है जिसमें
-१४ के विराम से २८ मात्रायें होती हैं। हिन्दी के अधिकांश आधुनिक कवि
सू' के किसी न किसी रूप में आभारी हैं। सन् १९३८ में भारतीय साहित्य-
षद् के मराठी मुख पत्र 'चिहंगम' के एक अंक में श्री वि० वा० बोरकणकर
आँसू छन्द' ही में 'आँसू' का मराठी में अनुवाद प्रकाशित कराया है। हिन्दी
ों के मनोरंजनार्थ यहाँ दो पद्य दिये जाते हैं :—

इस करुणा कलित हृदय में क्यों विकल रागिनी बजती?
यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती? (हिन्दी)

या करुण कलित हृदयांत, का विकल रागिणी बाजे?
में हाहाकार स्वरांत असीम वेदना गर्जे? (मराठी)

लबुले सिन्धु के फूटे, नक्षत्र मालिका टूटी!
भ मुक्त कुन्तला धरणी, दिखलाई देती लूटी॥ (हिन्दी)

डबुडे सिन्धु ते फुटले, नक्षत्रमालिका तुटली!
भ मुक्त कुन्तला जगती, भासते अता लुटलेली॥ (मराठी)

तरुण कवि 'अनिल कुमार' ने भी इसका मधुर मराठी अनुवाद किया है, उसकी भी बानगी यहाँ दी जाती है :—

बस गई एक बस्ती है, स्मृतियों की इसी हृदय में
नक्षत्र-लोक फैला है, जैसे इस नील निलय में। (हिन्दी)
वसती ही एक स्मृतींची, वसली या हृदयापाशी।
हा तारालोक पसरला, जैसा या नीलाकाशी॥ (मराठी)
ये सब स्फुलिंग हैं मेरी, उस ज्वालामयी जलन के।
कुछ शेष चिन्ह हैं केवल, मेरे उस महामिलन के॥ (हिन्दी)
उरि जलत्या मम ज्वालेचे, स्फुल्लिंग सर्व हे भरले।
माझया त्या मिलन स्मृती चे, हे चिन्ह मात्र जे उरले। (मराठी)

इससे प्रकट होता है कि 'आँसू' ने हिन्दी जगत् को ही नहीं, अहिन्दी भाषा-भाषियों को भी 'रस'-सिक्त किया है। हिन्दी के गीति-काव्यों में 'आँसू' को को सबसे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। 'प्रसाद' सजग कलाकर थे, वे अपने वातावरण से संकेत ले उसे अपनी भावनाओं से भरने की क्षमता ही न रखते थे, भविष्य के चिन्तन को भी पहचान सकते थे। इसी से 'कामायनी' में कोरी भावुकता हमें नहो मिलती। विज्ञान-युग का बुद्धिवाद भी, जो प्रगति का चिह्न है, उसमें विद्यमान है। सामंजस्य-प्रवृत्ति होने से उन्होंने प्राचीन और आधुनिक मान्यताओं का एकीकरण किया है। इस प्रयत्न में काव्य-रस कहाँ तक सुरक्षित रह सका है यह प्रश्न है। इधर उसके अंग्रेजी, रूसी और संस्कृत रूपान्तर भी प्रकाशित हुए हैं।

फिर भी 'प्रसाद' के काव्य में एक कमी है, जो उसका कदाचित् वैशिष्ट्य भी कहा जा सकता है कि वह अधिकांश में संकेतात्मक होन के कारण Mass appeal (जनसाधारण में प्रविष्ट होने) की क्षमता नहीं रखता। विश्वविद्यालयों से यदि उसकी मान्यता हट जाय, तो सम्भवतः औसत बुद्धि के व्यक्ति उसे विस्मृत करने में ही सुख अनुभव करें यह कथन है, पर निष्ठुरसत्य है।

पुस्तक लिखते समय यह सजगता रही है कि 'प्रसाद'—साहित्य दुरूह न रह पाय। इसीलिए 'आँसू' की दुरूह समझी जानेवाली समस्त पंक्तियों की भीतरी भावनाओं को समझने की चेष्टा की गई है। क्योंकि 'आँसू' ही ऐसी रचना है जिसमें कवि ने अपने को अधिक से अधिक व्यक्त किया है यदि कवि को

समझने में पाठकों की अभिरुचि को जरा भी सचेष्ट करने में यह पुस्तक सहायक हो सकी तो लेखक अपने श्रम को अव्यर्थ समझेगा। स्व० डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने बड़ी रुचि से 'आँसू' तथा इस ग्रन्थ को पढ़ने का श्रम उठाया है। उनके बहुमूल्य सुझावों से लाभ उठाया गया है। अतः लेखक उनका हृदय से कृतज्ञ है।

—विनयमोहन शर्मा

ई–६/एम० आई० जी–७
अरेरा कालोनी
भोपाल—४६२ ०१६

आधुनिक हिन्दी कविता और 'प्रसाद'

'प्रसाद' के पूर्व

'आधुनिक' की व्याख्या करते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठीक ही लिखा है कि "पत्रा-पंजी मिला कर 'आधुनिक' की सीमा का निर्णय कौन करे ? यह बात काल से उतना सम्बन्ध नहीं रखती, जितना भाव से रखती है।" नदी आगे की तरफ सीधी चलते-चलते हठात् टेढ़ी होकर मुड़ जाती है। साहित्य भी इसी प्रकार सीधा नहीं चलता। जब वह मुड़ता है तब उस मोड़ को ही 'मॉडर्न' या 'आधुनिक' की संज्ञा दी जाती है।"

हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्रारम्भ होता है। आधुनिकता की ओर पहली 'मोड' के दर्शन उन्हीं के समय से होते हैं। भारतेन्दु-काल सन् १८६५ से १९०० के लगभग माना जाता है। भारतेन्दु के पूर्व हिन्दी कविता रीतिकालीन या युग की आत्मा से उच्छ्वसित हो रही थी।

रीतिकालीन काव्य में मानव शरीर के प्रति रीझ-बूझ प्रबल थी। उसके मानसिक सौन्दर्य के साथ तादात्म्य स्थापित करने की बहुत कम चेष्टा की गई। उसमें व्यक्त विश्व से अदृष्ट सत्ता का आभास अनुभव नहीं किया गया। राधा-कृष्ण की ओट में लौकिक स्त्री-पुरुषों का उद्भ्रान्त शृंगार वर्णित किया गया, जैसा कि भिखारीदास की निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है—

> आगे के कवि रीझि हैं तो कविताई।
> नतरु राधिका गोविंद सुमिरन को बहानो है॥

यदि हम यह कहें रीतिकालीन काव्य में वात्स्यायन के काम-सूत्रों की व्याख्या अधिक है, तो अनुचित न होगा। उसमें मानव प्रकृति की सूक्ष्म भावनाओं पर कम ध्यान दिया गया। प्रकृति 'आलम्बन' नहीं, उद्दीपन के रूप में ग्रहण की गई। रीतिकालीन काव्य में जीवन के विभिन्न व्यापारों के प्रति उदासीनता पाई जाती है। उसमें एकाङ्गीपन अधिक है। इस युग में काव्य की आत्मा के अतिरिक्त उसके बाह्य अंग पर अधिक आग्रह प्रदर्शित किया गया। आचार्यत्व की प्रधानता रही।

भारतेन्दु-काल तक आते-आते रीतिकालीन धारा बेपानी-सी बन गई थी। उसमें प्राचीन कवियों के भावों की पुनरावृत्ति के कारण बासीपन आ गया था। अत: भारतेन्दु के समय में हिन्दी कविता स्वभावत: नई दिशा की ओर

मुड़ी। उसकी भाषा और विचारों में परिवर्तन दिखाई देने लगा। ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली की ओर प्रवृत्ति होने लगी। नये-नये विषयों का समावेश हुआ। देश की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक समस्याओं का झुँझलाहटभरा आवेग प्रकट होने लगा। यह अंग्रेजी साम्राज्यशाही की दृढ़ता का काल था। १८५७ के विप्लव को निर्दयता से दबा कर अंग्रेज भारत पर जम कर राज्य करने लगे थे। जनता भीतर ही भीतर क्षुब्ध हो रही थी। उसकी वाणी मुखर नहीं हो पाई थी, इसमें सन्देह नहीं। बँगला और अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन ने भी हिन्दी कवियों की दृष्टि मे विस्तार भर दिया। अतएव उनमें नायक-नायिकाओं के नख-शिख वर्णन से पूर्ण शृंगारी रचनाओं के प्रति विशेष आसक्ति नही रह गई। वे देश में क्रमशः सुलगने वाली जीवन-व्यापी चेतना के प्रति तटस्थ न रह सके। अतः उनकी रचनाओं में देश-प्रेम, समाज-सुधार आदि के विचारों ने प्रवेश किया, परन्तु फिर भी मानव के स्थूल का आकर्षण लुप्त नहीं हो पाया और यह संभव भी नहीं था।

स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षण चिरंतन सत्य है, पर यह आवश्यक नहीं है कि इस आकर्षण में काम-ज्वार उठना ही चाहिये। रसेलवादी भले ही कुछ अमेरिकन स्त्रियों की इस आकांक्षा को विज्ञापित करें कि "बहुत-सी सम्भ्रान्त घराने की स्त्रियाँ तक कुछ घण्टों के लिए वेश्या बन कर उस जीवन का अनुभव लेने को बेतहाशा ललच उठती हैं" और उनके इस कथन का विश्लेषण बदनाम अनैतिकतावादी मनोवैज्ञानिक बर्ट्रेण्ड रसेल इन शब्दों में भले ही करें कि "स्त्री-पुरुष स्वभावतः क्रमशः बहु पुरुष-स्त्रीगामी होते हैं। वे कुछ या बहुत काल तक भले ही एक व्यक्ति के प्रेम में बँधे रहें, पर एक समय आता है जब उनकी प्रेम की ज्वाला बुझने लगती है और वे अपने में नया उभार लाने के लिए नये साथी की खोज में व्यग्र हो जाते हैं।" जो रसेल के व्यक्तिगत जीवन से परिचित हैं, उन्हें उसके इस निष्कर्ष में—जहाँ तक उसका व्यक्तिगत अनुभव है—अतिरंजन नहीं दिखाई देगा। रसेल के स्त्री-पुरुष सम्बन्धी सिद्धान्तों को बहुमान्यता प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि उनसे समाज की स्थिति में प्राकृतिक सुधार की आशा नहीं की जाती। स्त्री-पुरुष का देह से ही नहीं, मन से भी सबल और स्वस्थ होना आवश्यक है। मन की भ्रामरी-वृत्ति अस्वस्थता का चिह्न है। अतः जिस साहित्य में मन के अनियंत्रित चांचल्य का चित्रण होगा, उसमें कला का 'सुन्दरम्' भले ही हो, पर जीवन का 'शिवम्' कदापि नहीं दिखाई देगा!

अथर्ववेद में एक उच्छिष्ट-सूक्त है। उसमें 'उच्छिष्ट' की बहुत प्रशंसा की गई है। 'अंग बिल्डर' में श्री क्षितिमोहन सेन ने उस सूक्त की बड़ी सुन्दर

व्याख्या की है—"मनुष्य और जगत् की सारी समृद्धि उच्छिष्ट है। उपभोग के बाद जो कुछ रह जाता है, उसी में से उसकी उत्पत्ति होती है। जिस वस्तु का हमने उपभोग किया, उसका तो क्षय हुआ और जो अवशेष रह गया, उसी में से मानव इतिहास, सभ्यता, धर्म, कला, सौन्दर्य और बन्धुत्व आदि तत्त्वों की उत्पत्ति हुई। भोग-विलास में तृष्णा का अंश अधिक होता है। इसलिए जो कुछ सामग्री मिलती है सबका उपभोग हो जाता है; कुछ अवशेष नहीं रहता। उसमें उच्छिष्ट न रहने से सृष्टि को निर्माण के लिए अवकाश नहीं मिलता। कामोपभोग की तृष्णा तो वंध्या स्त्री के समान है और सृजनहार में लोभ, तृष्णा कुछ भी नहीं। इसलिये वह सतत काल सृष्टि कर सकता है।"

यही कारण है कि परकीया नायिका, शठ नायक, दूती-लीला आदि की ऊहात्मक रचनाओं मे काम-विज्ञान की बारीकियाँ भले ही विशद रूप से दीख पड़ती हों, पर उनमें जीवन की प्राकृतिक स्थिति का अभाव ही पाया जाता है। उनसे न तो सृजनहार जी पाता है और न उनका आस्वादी।

काव्य में शृङ्गार रस के सम्बन्ध में स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा ने लिखा है—"शृङ्गार रस के काव्यों में परकीया आदि का प्रसंग कुरुचि का उत्पादक होने से नितान्त निन्दनीय कहा जाता है। यह किसी अंश में ठीक हो सकता है, पर ऐसे वर्णनों से कवि का अभिप्राय समाज को नीतिभ्रष्ट और कुरुचि-सम्पन्न बनाने से नहीं होता, ऐसे प्रसंग पढ़कर धूर्त, विटों की गूढ़-लीलाओं की दाँव-घात से परिचय प्राप्त करके सभ्य समाज अपनी रक्षा कर सके, इस विषय में सतर्क रहे—यही ऐसे प्रसंग-वर्णन का प्रयोजन है। काव्यालंकार के निर्माता रुद्रट ने भी यही बात दूसरे ढंग से कही है—

'नहि कविता परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः।
कर्त्तव्यतथान्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्यः॥
किन्तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति।
आराधयितुं विदुषस्ते न दोषः कवेरत्र॥"

परन्तु शृङ्गारी कविता की उपयोगिता को सिद्ध करने के लिए जो तर्क स्व०पं० पद्मसिंह शर्मा ने प्रस्तुत किए हैं, वे किसी भी अनैतिक कृत्य का नैतिक अभिप्राय बन सकते हैं। काव्य में 'शृङ्गार' के हम विरोधी नहीं हैं, पर 'यहि पाखैं पतिव्रत ताखैं रखौ'[1] में हम फिसलन ही पाते हैं; जिससे कलाकार के लिए अमर सृजन को कुछ भी सामग्री 'उच्छिष्ट' नहीं रह पाती। जो 'वस्तु' उसमें सृजन की प्रेरणा भर सकती है वही जब 'भुक्त हो जाती है तब उसकी 'कला' का सिन्दूर ही पुछ जाता है—उसकी सिहरन सदा के लिये सो जाती है।'

१ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

हमारे साहित्य में, वर्षों से 'भोग-श्रृङ्गार' (जिसमें काम-शास्त्र की ही पद-बद्ध विवेचना है) की जो लहर बह रही थी, वह हरिश्चन्द्र-काल में एकदम कैसे रुक सकती थी ? हाँ, उसमें एक परिवर्तन अवश्य हुआ कि जहाँ रीतिकालीन कवि 'नारी' के शरीर तक ही अपनी दृष्टि दौड़ा सके, वहाँ भारतेन्दु-काल के कवियों ने उसके अतिरिक्त जैसा कि ऊपर कहा गया है, अपने चारों ओर झांकने का भी प्रयास किया । इसी से जहाँ भारतेन्दु ने—

'तेरी अँगिया में चोर बसैं गोरी ।
छोड़ि दे किन बंद चोलिया पकरैं चोर हम अपनो री ।'[1]

जैसी रीतिकालीन परम्परा के अनुरूप 'होली' लिखी, वहाँ उन्होंने अपने देश की दशा पर चार आँसू भी बहाये—

'सोई भारत भूमि भई सब भाँति दुखारी ।
रह्यो न एकहु वीर सहस्रन कोस मँझारी ॥
होत सिंह को नाद जौन भारत बन माहीं ।
तहँ अब ससक सियार स्वान खर आदि लखाहीं ॥
जहँ झूसी उज्जैन अवध कन्नौज रहे वर ।
तहँ अब रोवत सिवा चहूँ दिसि लखियत खँडहर ॥
धन विद्या बल मान वीरता कीरति छाई ।
रही जहाँ तित केवल अब दीनता लखाई ॥'

आपके समकालीन लेखकों में भी देश की सामयिक अवस्था के प्रति झुकाव पाया जाता है । बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा है—

'भारत घोर मसान है, तू आप मसानी ।
भारतवासी प्रेत से, डोलत हैं कल्यानी ॥
हाड़-माँस नर-रक्त है, भूतन की सेवा ।
यहाँ कहाँ मा, पाइये, चंदन घी मेवा ॥'

इसी प्रकार स्व० पं० प्रतापनारायण मिश्र ने भी अपनी व्यंग्यात्मक शैली में 'सर्वसु लिये जात अंगरेज'—की आवाज बुलन्द की थी । भारतेन्दु के घनिष्ठ मित्र मध्यप्रदेश के स्व० ठा० जगमोहन सिंह ने 'ऋतु संहार' में 'भारत' की ब्रज-भाषा में स्तुति की है ।[2]

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, दूसरा भाग ।

२. भुव मधि जंबू द्वीप द्वीप सम अति छवि छायो ।
तामें भारतखंड मनहुँ विधि आपु बनायो ॥

इस तरह हम देखते हैं कि इन कवियों ने राधा-कृष्ण की विलास-क्रीड़ा की छलकन से कुछ विरक्त हो, अपनी स्थिति पर विचार करना प्रारम्भ कर दिया था। यहाँ 'विचार' शब्द का प्रयोग मैं साभिप्राय कर रहा हूँ, क्योंकि उस समय कविताओं से विभिन्न-सिद्धान्तों के प्रचार का ही कार्य लिया जाता था। उनमें मानसिक कोमल भावनाओं का उन्मेष बहुत कम था। उनका उद्देश्य सामयिक समस्याओं की ओर जनता का ध्यान खींचना भर था।

जिस प्रकार भारतेन्दुकालीन कविता नवीन विषयों की ओर झुकी, उसी प्रकार उसकी भाषा में भी ब्रज-भाषा के स्थान पर खड़ी बोली का क्रमशः प्रवेश होने लगा। भारतेन्दु बाबू ने परिमार्जित ब्रज-भाषा में अधिकांश रचनाएँ की हैं, क्योंकि वे उसे ही पद्य के लिए उपयुक्त समझते थे।[१] फिर वे भी, खड़ी बोली के एकदम विरोधी न थे। कुछ रचनाएँ उन्होंने खड़ी बोली में भी की हैं, पर उनका तर्ज उर्दुआना है। उनकी एक गजल की पंक्ति है—

'जुल्फों को लेके हाथ में, कहने लगा वह शोख।
गर दिल को बाँधना है तो काकुल से बाँधिए।'

अमीर खुसरो की भाँति उन्होंने मुकरियाँ भी लिखी हैं—

'आँखों घूरे भरा न पेट।
क्यों सखि! सज्जन, नहिं ग्रेजुएट॥'

आपके समकालीन कवियों ने भी खड़ी बोली को कुछ अंशों में अपना लिया था, पर उसमें ब्रज-भाषा के चलते शब्दों—रूपों का मेल भी वे कर देया करते थे।[२]

---

१. "पश्चिमोत्तर देश की कविता की भाषा ब्रज-भाषा है, यह निश्चित हो चुका है और प्राचीन काल से लोग इसी भाषा में कविता करते आते हैं, परन्तु यह कह सकते हैं कि यह नियम अकबर के समय के पूर्व नहीं था, क्योंकि मलिक मुहम्मद जायसी और चन्द की कविता विलक्षण ही है और वैसे ही तुलसीदासजी ने भी ब्रज-भाषा का नियम भंग कर दिया। जो हो, मैंने कई बेर परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाऊँ, पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं बनी। इससे यह निश्चय होता है कि ब्रज-भाषा ही में कविता करना उत्तम होता है और इसी से सब कविता ब्रज-भाषा में ही उत्तम होती है।" —भारत दुर्दशा (हरिश्चन्द्र)

२. 'देखो चिराग पर जलता है परवाना।
प्यासा मरता है स्वाती पर चातक दाना।

कुछ समय तक हिन्दी के विद्वानों में कविता के लिए खड़ी बोली उपयुक्त है अथवा ब्रज भाषा ? पर वाद-विवाद चलता रहा । एक पक्ष कहता था—'कविता के लिए ब्रज-भाषा ही अपनाई जानी चाहिए, क्योंकि उसमें माधुर्य खड़ी बोली की अपेक्षा बहुत अधिक है ।' दूसरा पक्ष ब्रज-भाषा को एक प्रान्त की भाषा मानता था और कहता था जब खड़ी बोली का प्रचार देश में बढ़ता जा रहा है, तब कविता क्यों एक प्रान्तीय भाषा में लिखी जाय ? तीसरा पक्ष भाषा के झगड़े को मिटाने के लिये यह कहता था कि कविता ब्रज-भाषा और खड़ी-बोली दोनों में लिखी जा सकती है । अतएव विषय के अनुरूप भाषाओं का प्रयोग किया जाना चाहिए । इसलिए हम देखते हैं कि भारतेन्दु बाबू के समय और उनके कुछ समय बाद भी हिन्दी के कवि दोनों भाषाओं में कविता किया करते थे । अतएव स्व० आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'सरस्वती' का सम्पादन-भार ग्रहण करने के पूर्व कोई कवि केवल खड़ी बोली में ही रचना करने के लिए प्रसिद्ध नहीं हुआ । द्विवेदीजी ने ही खड़ी बोली को हिन्दी-कविता का वाहन बनाया ।[1] वर्ड्स्वर्थ के समान उनका भी मत था कि बोलचाल की भाषा में गद्य ही नहीं, पद्य भी लिखा जा सकता है और लिखा जाना चाहिए । वर्ड्स्वर्थ का यह स्वप्न सत्य न हो सका, पर द्विवेदीजी के लिए वह सत्य ही सिद्ध हुआ—इस रूप में कि गद्य और पद्य की भाषा एक हो गई ।

इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

'गद्य और पद्य की भाषा पृथक्-पृथक् न होनी चाहिए ।' आपने 'कविता-कलाप' की भूमिका में, जो २ फरवरी १९०९ में लिखी गई थी, यह भविष्य-वाणी भी की थी कि "इस पुस्तक की अधिकांश कविताएँ बोल-चाल की भाषा में है । ...इस तरह की भाषा...में लिखी गई कविताएँ दिन-पर-दिन लोगों को अधिकाधिक पसन्द आने लगी है । अतएव बहुत सम्भव है कि किसी समय हिन्दी गद्य और पद्य की भाषा एक हो जाय ।"

मधुकर गुलाब के काँटों में उलझाना ।
निरखत मयंक नित चतुर चकोर चकराना ।'

—प्रेमघन

१. बिहार के अयोध्याप्रसाद खत्री ने खड़ी बोली का आन्दोलन चलाया और उन्होंने कविता-संग्रह भी प्रकाशित किया था । उनका समर्थन बाबू श्यामसुन्दरदास ने 'सरस्वती' में खड़ी बोली की कविताएँ छापने की घोषणा की थी, जिसका द्विवेदीजी ने समर्थन किया ।

द्विवेदी-काल (यह लगभग सन् १९०४ से १९२० तक माना जा सकता है) में देश में राष्ट्रीयता और एकता की भावना लहराने लगी थी और हिन्दी अपनी सरलता के कारण स्वयं राष्ट्र-भाषा बनती जा रही थी।

यद्यपि भारतेन्दु युग में कविता में नये विषय और नयी भाषा की ओर कवियों का ध्यान गया अवश्य, पर उसकी अभिव्यंजना प्रणाली में--ढाँचे में--कोई परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता। वही पुराने छन्द (कवित्त, सवैया आदि), वही पिष्टपेषित अलङ्कार! रचनाएँ रूढि-श्रृङ्खला से जकड़ी हुई दीखती हैं। विरहा, गजल, रेखता और कजली छन्दों में भी कविताएँ मिलती हैं। पर इन छन्दों की ओर प्रवृत्ति उन्हीं कवियों की पाई जाती है, जो उर्दू-फारसी से विशेष परिचित थे। (हरिश्चन्द्र के समय हिन्दी छन्दों का प्रचलन नहीं हुआ था। हरिश्चन्द्र और उनकी प्रेमिका मल्लिका ने बँगला छन्दों को अपनाया था। मुक्तक[1] रचनाएँ ही इस काल में मुख्यतः लिखी गईं। पर विषय में 'आश्रय' की अन्तर्वृत्ति की छाया न रहने से वे विशेष रसवती न बन सकीं।

भारतेन्दु के पश्चात् स्व० आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'सरस्वती' का सम्पादन-भार ग्रहण करने पर हिन्दी-साहित्य उन्हीं को केन्द्र बना कर गतिशील हुआ। हिन्दी-साहित्य पर क्रमशः उनका प्रभाव फैल गया। लगभग सन् १९०४ से सन् १९२० तक उन्हीं की साहित्यिक मान्यताओं और विश्वासों को अधिकांश हिन्दी साहित्यकारों ने अपनाने की चेष्टा की। आधुनिकता की दूसरी मोड़ के दर्शन यहीं से होते हैं। अतएव काव्य सम्बन्धी उनकी धारणाओं को जान लेना आवश्यक है। आप लिखते हैं--

"अन्तःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है। नाना प्रकार के योग

---

१. मुक्तक--उसे कहते हैं जो 'मुक्त' है--स्वतंत्र है, जिसका सम्बन्ध पिछले पद्यों से नहीं है और न जो आनेवाले पद्यों की भूमिका है। जिस अकेले पद्य ही में विभाव-अनुभाव आदि से परिपुष्ट इतना रस भरा हुआ हो कि उसके स्वाद से श्रोता-पाठक तृप्त हो जायँ, सहृदयता की प्यास बुझाने को उसे अगली-पिछली कथा का सहारा न लेना पड़े, वह 'मुक्तक' कहलाता है। हिन्दी में 'मुक्तक' को ही 'फुटकर कविता' कहते हैं। 'मुक्तक' में कवि को 'गागर' में 'सागर' भरना पड़ता है। इसलिए ऐसे काव्य में सौन्दर्य भरने के लिए कवि को शब्दों की अभिधा शक्ति से कम, ध्वनि व्यञ्जना से अधिक काम लेना पड़ता है। बिहारी के 'दोहे' मुक्तक का अच्छा उदाहरण कहे जाते हैं।

से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन में नहीं समाते, तब वे आप ही आप मुख के मार्ग से (कलम की राह भी उनके लिए खुली हुई नहीं है—लेखक) बाहर निकलने लगते है; अर्थात् वे मनोभाव शब्दों का स्वरूप धारण करते है। यही कविता है।''''आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज समझ रखा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य मे वही भेद है, जो अंग्रेजी की 'पोइट्री' और 'वर्स' में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है और नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य को पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता, वह कविता नहीं, वह नपी-तुली शब्द-स्थापना मात्र है।"

आचार्य चूंकि मराठी पद्य-साहित्य से भली-भाँति परिचित थे अतः हिन्दी कविता में भी मराठी भाषा सी गद्यात्मकता वे ले आए। पर इसमें भी सन्देह नहीं कि कविता की व्यापक व्याख्या द्वारा उन्होंने आधुनिक कविता की कई नई प्रवृत्तियों का द्वार खोल दिया। उसके विषय, उसकी भाषा, उसकी अभिव्यञ्जना-प्रणाली आदि में हमें हरिश्चन्द्र-काल से अधिक विस्तार और अधिक आधुनिकता दिखलाई देती है। यह बात दूसरी है कि उनकी व्याख्या के अनुसार उनके काल की कविता अपने को सँवार न सकी।

कविता के विषय के सम्बन्ध में आचार्य द्विवेदी लिखते हैं—

"चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त, पशु-भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त, जल, अनन्त आकाश, अनंत पृथ्वी, सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है, फिर क्या कारण है कि इन विषयों को छोड़ कर कोई-कोई कवि स्त्रियों की चेष्टाओं का वर्णन करना ही कविता की चरम सीमा समझते है ? केवल अविचार और अन्ध-परम्परा।"¹ विषयों की व्यापकता बढ़ाने पर भी द्विवेदी काल में 'स्त्रियों की

१. आचार्य के पश्चात् पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कविता की व्यापक समीक्षा की—उसके उपकरणों की व्याख्या की। उन्होंने भी कविता का क्षेत्र व्यापक बताया है। वे लिखते है—काव्य-दृष्टि कहीं तो १. नर-क्षेत्र के भीतर रहती है, कहीं २. मनुष्येतर बाह्य सृष्टि के और ३. कहीं समस्त चराचर के। आज के कवि, चाहे वे जिस 'वाद' का लेबल लगा कर लिखें, कविता के विषय की व्यापकता का आग्रह बराबर प्रदर्शित कर रहे हैं। वे हिमालय की उच्चता का ही अंकन नहीं करते, 'गरम पकौड़ी' पर भी लिख कर उल्लसित होते हैं। कनखजूर, मच्छर, खटमल, नागिन भी उनके काव्य-विषय हो रहे हैं।

के वर्णन की 'इति' नहीं हो गई। आचार्य द्विवेदीजी द्वारा सम्पादित कलाप' में संगृहीत ४६ कविताओं में से लगभग ३९ कविताएँ 'स्त्री' ो हैं। आचार्य स्वय स्त्रियों की चेष्टाओं के वर्णन से अपनी लेखनी को रख सके। 'प्रियंवदा' के विषय मे उनकी निम्न पंक्तियाँ पढ़िये—

यह है प्रियंवदा पति-प्यारी।
कुल कामिनी पारसी नारी॥
इसकी रुचिर रेशमी सारी।
तन की द्युति दूनी विस्तारी॥

× × ×

पुरुषों में भी जाना इसने।
मंद मंद मुसकाना इसने।
सुधा-सलिल बरसाना इसने।
जरा नहीं शरमाना इसने।
कचकलाप बिखराये कैसे?
सम्मुख सुघर बनाये कैसे?
दर्शक दृग यदि उन पर जाते।
फिर वे नहीं लौटने पाते।

[-]युग के अन्य कवियों ने भी नारी के शरीर-वर्णन का लोभ संवरण । 'शंकर' (स्व० पं० नाथूराम 'शंकर' शर्मा) की सुप्रसिद्ध रचना [-]' में पढ़िए—

'उन्नत उरोज यदि युगल उमेश हैं तो,
काम ने भी देखो दो कमानें ताक तानी हैं।
'शङ्कर' कि भारती के भावने भवन पर,
मोह महाराज की पताका फहरानी है।
किंवा लट नागिनी की साँवली सँपेलियों ने,
आधे विधु-बिम्ब पै विलास विधि ठानी है।
काटती हैं कामियों को काटती रहेंगी कहो,
भृकुटी कटारियों का कैसा कड़ा पानी है।''

विषयों से नारी का लोप न हो जाने पर श्री शंकर के [illegible]

रूप को आलोच्य काल में प्रोत्साहन नहीं मिला। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत-भारती' में श्रृंगारी कवियों की प्रवृत्ति पर खिन्न होकर लिखा है—

'उद्देश्य कविता का प्रमुख श्रृङ्गार-रस ही हो गया,
उन्मत्त होकर मन हमारा अब उसीमें खो गया।'

इसीसे इसको 'आदर्शवादी युग' (Puritan Age) कहा जाता है। यह इतिवृत्तात्मक काव्य का युग रहा है। इसमें अधिकांश कवियों की दृष्टि 'वस्तु' के बाह्य अंग पर जाकर ही रुक गई। वह उसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित न कर सकी।

देश में बंग-भंग के कारण स्वदेशी-आन्दोलन के बवंडर ने 'बंग-भूमि' को ही नहीं समस्त देश को हिला दिया। पूना से लोकमान्य तिलक 'केसरी' द्वारा 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' की हुङ्कार मचा रहे थे। जनता की सुप्तप्राय राजनीतिक चेतना जागने के लिए आँखें मलने लगी थी। धार्मिक-क्षेत्र में आर्य-समाज ने हिन्दू-समाज के रूढ़िवाद को ठोकरें मारना प्रारम्भ कर दिया और 'हिन्दू-हिन्दी और हिन्दुस्तान' के प्रति प्रेम भरने का उपक्रम किया।[१] इसीसे द्विवेदी-युग की रचनाओं में, जहाँ राष्ट्रीयता-जातीयता के स्वर निकलने लगे, वहाँ धार्मिक-सामाजिक प्रश्नों को बौद्धिक दृष्टि से देखने का उपदेश भी सुनाई देने लगा।[२] इसी युग में कृषक और दलित वर्ग के प्रति सहानुभूति व्यक्त करनेवाली रचनाएँ भी दृष्टिगोचर होने लगी थीं। 'गुप्त बन्धु' (मैथिलीशरण गुप्त और सियारामशरण गुप्त के 'किसान' और 'अनाथ' सर्वहारा जीवन पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

इस काल के कवियों ने पौराणिक और ऐतिहासिक आख्यानों को भी अपनाने की चेष्टा की, जिससे खंडकाव्य और महाकाव्य भी रचे जाने लगे। पौराणिक आख्यान संस्कृत से अनूदित किये गये और स्वतन्त्र भी लिखे गये। 'रघुवंश'

---

१. बाबू मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' में इन्हीं भावनाओं का प्रचार पाया जाता है।

२. 'हिन्दू-समाज कुरीतियों का केन्द्र जा सकता कहा।
ध्रुव धर्म-पथ में कु-प्रथा का जाल-सा है बिछ रहा।
सब अंग दूषित हो चुके हैं अब समाज शरीर के।
संसार में कहला रहे हैं हम फकीर लकीर के।'

—मैथिलीशरण गुप्त

(मूल), 'कुमार-संभव' (महावीरप्रसाद द्विवेदी), श्रीमद्भागवत के अंशों का 'पंच गीत' तथा 'गोपी गीत' (पोद्दार) के नाम से अनुवाद प्रस्तुत किये गये। 'प्रियप्रवास' (हरिऔध) और 'रामचरितचिन्तामणि' (रामचरित उपाध्याय) इस युग के 'महाकाव्य' कहे जाते हैं। 'साकेत' की रचना भी इसी युग में प्रारम्भ हो गई थी। खण्डकाव्यों में मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथ वध', 'प्रसाद' का 'महाराणा प्रताप', सियारामशरण गुप्त का 'मौर्य-विजय', गोकुलचन्द्र शर्मा का 'प्रणवीर प्रताप' आदि उल्लेखनीय है।

पौराणिक और ऐतिहासिक घटनाओं पर रचे गये मुक्तक काव्यों की संख्या बहुत अधिक है। आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' मे राजा रवि वर्मा के पौराणिक चित्रों के साथ उन पर आख्यानात्मक कवितायें भी प्रकाशित की, जिन्हें पढ़ने के लिए हिन्दी के पाठक सदा उत्सुक रहते थे। 'सरस्वती' के प्रचार मे सचित्र काव्य-प्रकाशन-योजना का भी बड़ा योग था।

भाषा के सम्बन्ध में पहिले लिखा ही जा चुका है कि ब्रज-भाषा का स्थान खड़ी बोली ने ले लिया, पर जैसा कि स्वाभाविक था, खड़ी बोली की रचनाओं में भी इन दोनों भाषाओं का सङ्कर हो जाया करता था। प्रयत्न यही होता था कि भाषा विशुद्ध खड़ी बोली ही रहे। यह वास्तव में भाषा-परिष्कार का ही युग था। 'पाठक', 'हरिऔध' और 'प्रसाद' ('प्रसाद' द्विवेदी-मण्डल से पृथक् ही अपनी काव्य-साधना में तत्पर थे) प्रारम्भ में ब्रजभाषा में कविता करते थे, पर समय की लहर ने उन्हें स्पर्श किया और वे खड़ी बोली के साथ बद्धपरिकर हो गए। 'साँकरी गली में माय काँकरी गड़तु है' की ध्वनि का मोह छोड़ कर 'खड़ी बोली' में वे बोलने लगे।

द्विवेदी-काल ही में खड़ी बोली की रचनाओं में माधुर्य आने लगा था। शब्द-शिल्पी 'पंत' का प्रादुर्भाव इसी युग में हो गया था। बँगला, अंग्रेजी और संस्कृत साहित्य के अध्ययन-मनन से काव्य में प्राचीन और अर्वाचीन भावों का समावेश होने लगा था और शब्द-भाण्डार में भी नए-नए शब्द और मुहावरों की वृद्धि होने लगी थी।[1]

---

१. 'काला तो यह बादल है, कुमुद-कला है जहाँ किलकती।
वह नभ जैसा निर्मल है, मैं वैसी ही उज्ज्वल हूँ माँ!'
—पंत (१९१८)

'बालक के कंपित अधरों पर, किस अतीत स्मृति का मृदुहास।
जग की इस अविरत निद्रा का, करता नित रह-रह [illegible]॥

रूप को आलोच्य काल में प्रोत्साहन नहीं मिला। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत-भारती' में शृंगारी कवियों की प्रवृत्ति पर खिन्न होकर लिखा है—

'उद्देश्य कविता का प्रमुख शृङ्गार-रस ही हो गया,
उन्मत्त होकर मन हमारा अब उसीमें खो गया।'

इसीसे इसको 'आदर्शवादी युग' (Puritan Age) कहा जाता है। यह इतिवृत्तात्मक काव्य का युग रहा है। इसमें अधिकांश कवियों की दृष्टि 'वस्तु' के बाह्य अंग पर जाकर ही रुक गई। वह उसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित न कर सकी।

देश में बंग-भंग के कारण स्वदेशी-आन्दोलन के बवंडर ने 'बंग-भूमि' को ही नहीं समस्त देश को हिला दिया। पूना से लोकमान्य तिलक 'केसरी' द्वारा 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' की हुङ्कार मचा रहे थे। जनता की सुप्तप्राय राजनीतिक चेतना जागने के लिए आँखें मलने लगी थी। धार्मिक-क्षेत्र में आर्य-समाज ने हिन्दू-समाज के रूढ़िवाद को ठोकरें मारना प्रारम्भ कर दिया और 'हिन्दू-हिन्दी और हिन्दुस्तान' के प्रति प्रेम भरने का उपक्रम किया।[१] इसीसे द्विवेदी-युग की रचनाओं में, जहाँ राष्ट्रीयता-जातीयता के स्वर निकलने लगे, वहाँ धार्मिक-सामाजिक प्रश्नों को बौद्धिक दृष्टि से देखने का उपदेश भी सुनाई देने लगा।[२] इसी युग में कृषक और दलित वर्ग के प्रति सहानुभूति व्यक्त करनेवाली रचनाएँ भी दृष्टिगोचर होने लगी थीं। गुप्त बन्धु (मैथिलीशरण गुप्त और सियारामशरण गुप्त के 'किसान' और 'अनाथ' सर्वहारा जीवन पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

इस काल के कवियों ने पौराणिक और ऐतिहासिक आख्यानों को भी अपनाने की चेष्टा की, जिससे खंडकाव्य और महाकाव्य भी रचे जाने लगे। पौराणिक आख्यान संस्कृत से अनुदित किये गये और स्वतन्त्र भी लिखे गये। 'रघुवंश'

---

१. बाबू मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' मे इन्हीं भावनाओं का प्रचार पाया जाता है।

२. 'हिन्दू-समाज कुरीतियों का केन्द्र जा सकता कहा।
ध्रुव धर्म-पथ में कु-प्रथा का जाल-सा है बिछ रहा।
सब अंग दूषित हो चुके हैं अब समाज शरीर के।
संसार में कहला रहे हैं हम फकीर लकीर के।'

—मैथिलीशरण गुप्त

(मूल), कुमार-सम्भव (महावीरप्रसाद द्विवेदी), श्रीमद्भागवत के अंशों का 'पंच गीत' तथा 'गोपी गीत' (पोद्दार) के नाम से अनुवाद प्रस्तुत किये गये। 'प्रियप्रवास' (हरिऔध) और 'रामचरितचिन्तामणि' (रामचरित उपाध्याय) इस युग के 'महाकाव्य' कहे जाते हैं। 'साकेत' की रचना भी इसी युग में प्रारम्भ हो गई थी। खण्डकाव्यों में मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथ वध', 'प्रसाद' का 'महाराणा प्रताप', सियारामशरण गुप्त का 'मौर्य-विजय', गोकुलचन्द्र शर्मा का 'प्रणवीर प्रताप' आदि उल्लेखनीय हैं।

पौराणिक और ऐतिहासिक घटनाओं पर रचे गये मुक्तक काव्यों की संख्या बहुत अधिक है। आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' में राजा रवि वर्मा के पौराणिक चित्रों के साथ उन पर आख्यानात्मक कवितायें भी प्रकाशित कीं, जिन्हें पढ़ने के लिए हिन्दी के पाठक सदा उत्सुक रहते थे। 'सरस्वती' के प्रचार में सचित्र काव्य-प्रकाशन-योजना का भी बड़ा योग था।

भाषा के सम्बन्ध में पहिले लिखा ही जा चुका है कि ब्रज-भाषा का स्थान खड़ी बोली ने ले लिया, पर जैसा कि स्वाभाविक था, खड़ी बोली की रचनाओं में भी इन दोनों भाषाओं का सङ्कर हो जाया करता था। प्रयत्न यही होता था कि भाषा विशुद्ध खड़ी बोली ही रहे। यह वास्तव में भाषा-परिष्कार का ही युग था। 'पाठक', 'हरिऔध' और 'प्रसाद' ('प्रसाद' द्विवेदी-मण्डल से पृथक् ही अपनी काव्य-साधना में तत्पर थे) प्रारम्भ में ब्रजभाषा में कविता करते थे, पर समय की लहर ने उन्हें स्पर्श किया और वे खड़ी बोली के साथ बद्धपरिकर हो गए। 'साँकरी गली में माय काँकरी गड़तु है' की ध्वनि का मोह छोड़ कर 'खड़ी बोली' में वे बोलने लगे।

द्विवेदी-काल ही में खड़ी बोली की रचनाओं में माधुर्य आने लगा था। शब्द-शिल्पी 'पंत' का प्रादुर्भाव इसी युग में हो गया था। बँगला, अंग्रेजी और संस्कृत साहित्य के अध्ययन-मनन से काव्य में प्राचीन और अर्वाचीन भावों का समावेश होने लगा था और शब्द-भाण्डार में भी नए-नए शब्द और मुहावरों की वृद्धि होने लगी थी।[1]

---

१. 'काला तो यह बादल है, कुमुद-कला है जहाँ किलकती।
वह नभ जैसा निर्मल है, मैं वैसी ही उज्ज्वल हूँ माँ!'
—पंत (१९१८)

'बालक के कम्पित अधरों पर, किस अतीत स्मृति का मृदुहास।
जग की इस अविरत निद्रा का, करता नित रह-रह उपहास।

इसी युग म काव्य की अभिव्यक्ति के रूप म भी रूढ़ि के प्रति विद्रोह के चिह्न दिखलाई देन लग थ। सस्कृत वृत्तो—विशेषकर वर्ण-वृत्तों का प्रयोग होने लगा था। हरिऔधजी की रचनाओं मे यह रूप स्पष्ट लक्षित होता था।

पर द्विवेदी-युग का काव्य शुष्क नैतिकता और 'इतिवृत्तात्मकता' के लिए ही प्रसिद्ध है। उसमें रीतिकालीन युग की 'रसिकता' के प्रति 'प्रतिवर्त्तन' स्वभावतः पाया जाता है। युग-धर्म की रक्षा का उसमें आग्रह है।

'प्रसाद' का प्रादुर्भाव

स्व० आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होते ही 'प्रसाद' के कवि का जन्म हो जाता है, पर जिस वात्सल्य-रस की वर्षा आचार्य ने बाबू मैथिलीशरण गुप्त तथा अन्य कवियों पर की, इसकी एक फुहार भी 'प्रसाद' तक न पहुँच सकी। अतः उनका विकास किसीका आश्रय लेकर नहीं हुआ—वे स्वयं ही अङ्कुरित हुए, पल्लवित हुए, फूले और महके।

सन् १९०९-१९१० से उनकी कविता का काल प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ उन्होंने ब्रजभाषा से ही किया, क्योंकि उस समय यद्यपि खड़ी बोली का स्वर सुन पड़ता था, पर वह गद्य के लिए ही अधिक उपयुक्त समझी जाती थी—पद्य में 'ब्रजभाषा' का ही सम्मान था। उनकी प्रथम प्रकाशित कृति 'चित्राधार' में 'ब्रजभाषा' का ही रस लहरा रहा है। पर ब्रजभाषा का मोह 'प्रसाद' को अधिक काल तक आच्छादित न रख सका—एक-दो वर्ष बाद ही खड़ी बोली उनकी कविता मे मुखरित हुई—ब्रज की केवल स्मृति-मिठास लेकर। भावनाओं को 'रूप' दे, उन्हें नए-नए 'साँचों' में ढालने की कला का प्रादुर्भाव 'प्रसाद' से ही होता है।[1]

उन स्वप्नों की स्वर्ण सरित का सजनि! कहाँ शुचि जन्मस्थान?
मुसकानों में उछल-उछल मृदु, बहती वह किस ओर अजान?'

—पंत (सन् १९२०-२१)

राहुल सांकृत्यायन के कथनानुसार 'पंत' ने सन् १९२१ के पूर्व बंगला की रवि बाबू तथा अंग्रेजी में सरोजिनी की कविताओं को पढ़ लिया था। 'प्रसाद' के 'झरना' को भी वे देख चुके थे। 'प्रियप्रवास' की करुण पंक्तियाँ उनकी आँखों को आँसुओं से भर देती थीं। फिर भी उनका मन हिन्दी में नूतन शैली की खोज में था। छायावाद युग में 'पंत' का पूर्ण निखार दिखाई दिया।

१. "प्रसादजी हिन्दी मे अतुकान्त कविता के प्रारम्भकर्ता हैं। निस्सन्देह हिन्दी में गणवृत्तों में उनके लिखने के बहुत पहिले भी अमित्राक्षर कविता

' चूंकि आधुनिक हिन्दी कविता में रहस्यवाद---छायावाद की भाव-
तिष्ठित करने वाले माने जाते हैं, इसलिए हम रहस्यवाद-छायावाद
विवेचन कर 'प्रसाद' के काव्य की परीक्षा करेंगे। 'प्रसाद' से ही
न्दी-काव्य की तीसरी 'मोड़' खिच जाती है।

गई है, किन्तु मात्रिक वृत्तों में उसका प्रयोग तथा भावों और
की---चरणों के बन्धन में न पड़ [illegible]---[illegible] [illegible], [illegible]
वसान---प्रसादजी की ही सृष्टि है।"

---'[illegible]' का वक्तव्य

रहस्यवाद-छायावाद और 'प्रसाद'

'रहस्य' का अर्थ है गुप्त, प्रच्छन्न, अव्यक्त; और जिसमें गुप्त, प्रच्छन्न और अव्यक्त का उल्लेख है,—इंगित है—वही 'रहस्यवाद' है। सावरण को निरावरण करने की प्रवृत्ति मनुष्य-मात्र में प्रारम्भिक काल से रही है। 'दर्शन' की उत्पत्ति इसी जिज्ञासा का परिणाम है। उपनिषदों में उसी 'प्रच्छन्न' को देखने का कुतूहल है। रूप जगत् क्या है?—मैं (आत्मा) क्या हूँ? 'आत्मा' और 'जगत्' का सम्बन्ध क्या है? 'जगत्' किसकी सृष्टि है? वह (सः) कौन है? 'सः', 'जगत्' और 'आत्मा' के बीच क्या कोई शृङ्खला है? ये प्रश्न हैं जो 'दर्शनों' में अनेक तर्क-वितर्कमय उत्तरों के पश्चात् भी प्रश्न ही बने हुए हैं। उनका निष्कर्ष है; वह; (सः) अनुभव किया जा सकता है—उसका वर्णन नहीं हो सकता। ईसाई दार्शनिक कहते हैं, "प्रेमिका के उसास-भरे वक्षःस्थल का जैसे कोई उन्मत्त प्रेमी आलिंगन करता है और उससे जो मीठा-मीठा कुछ भीतर घुलने लगता है—कुछ ऐसा ही 'उसके' सान्निध्य का अनुभव होता है।" बौद्ध इस प्रश्न पर मौन धारण कर लेता है; वेदान्ती 'नेति-नेति' (यह नहीं, यह नहीं) कह कर रुक जाता है; सूफी एक उर्दू कवि के शब्दों में उसको प्रत्येक स्थल पर अनुभव करता है :—

> जाहिद! शराब पीने दे मसजिद में बैठ कर।
> या वह जगह बता कि जहाँ पर खुदा न हो।

वह अपनी सत्ता को उसी (सौन्दर्य) में खो देता है।[1]

सूफी कवि रूमी ने सूफी ध्येय को एक उदाहरण द्वारा बड़ी सुन्दरता से समझाया है—

"किसीने प्रियतम के द्वार को खटखटाया। भीतर से एक आवाज ने पूछा—'तू कौन है?' उसने कहा—'मैं।' आवाज ने कहा—'इस घर में.... 'मैं और तू' दो नहीं समा सकते।' दरवाजा नहीं खुला। व्यथित प्रेमी वन में तप करने चला गया। साल-भर कठिनाइयाँ सह कर वह लौटा और उसने

---

1. "Sufi strives to lose humanity in beauty. Self-annihilation is his watch word."

फिर दरवाजा खटखटाया। उससे फिर प्रश्न हुआ—'तू कौन है?' प्रेमी ने उत्तर दिया—'तू।' दरवाजा खुल गया।"[1]

'अद्वैतवादी' भी उसको अपने ही में देखता है। इसी से वह कहता है—'सोऽहम्'—'मैं ही वह हूँ।' वह आत्मा में ही परमात्मा को अधिष्ठित देखता है और जगत् को 'मिथ्या' समझता है। उसका विश्वास है कि आत्मा पर माया का आवरण पड़ा रहने से हम 'उसके' दर्शन नहीं कर पाते। आवरण को विदीर्ण कर ही हम पर उसकी आभा का प्रकाश पड़ता है और हम उसे अपने में अनुभव करने लगते हैं।

सूफी और अद्वैतवादी (निर्गुणवादी) दोनों ही जगत् को मिथ्या मानते हैं, परन्तु सूफी जगत् के 'रूप' में परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करता है। उसे वह परमात्मा के विरह में व्याकुल देखता है इसी से परमात्मा तक पहुँचने के लिए वह भौतिक वस्तु के प्रति आसक्ति धारण कर प्रेम-विभोर हो जाता है। उसका साधन प्रेम है और साध्य भी प्रेम।

द्वैतवादी (सगुणोपासक) आत्मा (जीव) को ब्रह्म से पृथक् मानता है। वह अद्वैतवादी की तरह दोनों को एक नहीं मानता। वह सायुज्य मुक्ति की कामना भी नहीं करता। अपने आराध्य को अपलक आँखों से देखते रहने और उसका सान्निध्य शाश्वत बनाये रखने में ही अपने को कृतकृत्य मानता है।[3]

---

१. सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने भी कहा है—

हौं हौं कहत सबै मत खोई।
जो तू नाहि आहि सब कोई।

२. "संसार अपनी ही कल्पना है, जैसी कल्पना होगी वैसा ही वह बनेगा। यही चिरन्तन रहस्य है।"

—मैत्रेयी उपनिषद्

"यह संसार जिस वस्तु का बना हुआ है वह मानसिक वस्तु ही है। हमारा परिचित संसार मन की सृष्टि है। बाह्य, भौतिक संसार सब छाया मात्र रह गया है। संसार सम्बन्धी भ्रम के निवारण के लिये हमने जो प्रयास किए उनके परिणामस्वरूप संसार का ही निवारण हो गया, क्योंकि हमने देख लिया कि सबसे बड़ी भ्रम की वस्तु स्वयं संसार ही है।"

—एडिंग्टन और जीन्स

३. कहा करौं बैकुंठ लै, कल्प वृच्छ की छाँह

उसे अपना 'आराध्य' ही सब कुछ है और उसके बिना 'सब'-कुछ नहीं। वह धार्मिक ग्रन्थों मे रंजित स्वर्ग की कामना भी नही करता।

कुमारी अंडरहिल 'एसेनसियल्स ऑव मिस्टीसीज़्म' में लिखती है—We cannot honestly say that there is any wide difference between Brahmin, Sufi and Christian.

अब प्रश्न यह उठता है कि विभिन्न 'दर्शनों' के इस रहस्य को खोजने का उद्देश्य क्या है? उसे जान कर उन्हें क्या प्राप्त होता है? इसका उत्तर केवल एक शब्द में दिया जा सकता है। और वह है—आनन्द।[1]

सांसारिक संघर्षों से हट कर मनुष्य ऐसी स्थिति[2] मे पहुँचना चाहता है, जहाँ केवल आनन्द की ही वर्षा होती है। जीवन के विविध ताप (दुःख) पिघल कर बह जाते हैं। उपनिषद्कार कहते हैं—

"आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दम्प्रयान्त्यभिसंविशन्ति।"

"यह सृष्टि आनन्द से ही उत्पन्न हुई है, आनन्द की ओर ही इसकी गति है और आनन्द में ही स्थिति।"

'दर्शन' की 'रहस्य'-भावना को 'काव्य' मे किस रूप में अपनाया गया है; इसे हमें समझ लेना चाहिए और यही समझ कर हमें चलना चाहिए कि दर्शन काव्य नही है और यह भी कि काव्य में दार्शनिक भाव-व्यञ्जना होने पर भी वह (काव्य) 'दर्शन' नहीं बन जाता।

'दर्शन', तर्क और ज्ञान से 'रहस्य' को समझने का आग्रह करता है, काव्य 'उसे' अपने में आच्छादित कर लेने की व्याकुलता प्रकट करता है। दर्शन चिन्तन है— विचार है; कविता अनुभूति है, भाव है। 'दर्शन' 'उसे' दूर रख कर खुली आँखों से देखने की चेष्टा करता है। काव्य 'उसे' अपने ही मे

---

१. को जानै को जैहैं जमपुर को, सुर पुर पर धाम को।
तुलसिहिं बहुत भलो लागत जगजीवन रामगुलाम को।
—तुलसी (विनय पत्रिका)

२. रहस्यवाद भी एक मानसिक स्थिति ही है। स्पर्जियन ने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है—

"Mysticism is in truth a temper, rather than a doctrine, an atmosphere rather than a system of philosophy"

उतार कर निमीलित नेत्रों से उसका दर्शन करता है। जहाँ 'रहस्य' के प्रति हमारा राग जाग उठता है, हम 'उसकी' ओर अपने को भूल कर खिचने लगते हैं; वहीं काव्य की भूमिका प्रस्तुत हो जाती है। 'रहस्य' की ओर खिचाव--आकर्षण--ही रहस्यवादी काव्य को जन्म देता है। 'रहस्य' जैसा कि अभी तक के विवेचन से स्पष्ट है, उस परोक्ष सत्ता को कहते हैं, जो हमारी पार्थिव आँखों के ओझल है, परे है! उसी को अनुभव करने, पहचानने की ललक--चाह--रहस्यवादी काव्य में दीख पड़ती है। अपनी प्रवृत्ति और विश्वास-भावना के अनुसार एक रहस्यवादी जगत् में परोक्ष सत्ता का आभास पाकर उसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ कर हर्ष-पुलक से भर जाता है, दूसरा जगत् को असत्य मान उससे विरक्त हो अपने भीतर ही उस सत्य के दर्शन कर आत्म-विभोर हो जाता है।[1] इस प्रकार के द्रष्टा को आत्मवादी या व्यक्तिवादी भी कह सकते है, तीसरा किसी व्यक्ति ही को 'उसका' प्रतीक मान उसमें अपनी भावनाओं को केन्द्रित कर उसी का सान्निध्य चाहता है।

इस प्रकार रहस्यवादी अपनी आत्मा के चेतन को झाँकने के लिए उन्मुख होता है, स्थूल प्रकृति में समष्टि रूप से चेतनता का आरोप कर उससे अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है और उसे अपना ही अंश अनुभव करने लगता है। और वह व्यष्टि ही में परोक्ष चेतन का आरोप कर भी आत्मविस्मृत हो जाता है। प्रत्येक रहस्यवादी के लिए आकर्षण के आधार (आलम्बन) का एक होना आवश्यक नहीं, पर उस आधार में उस रहस्यमयी परोक्ष सत्ता की अनुभूति में सबका एक होना निश्चय ही आवश्यक है।

जो प्रकृति के किसी सीमित स्थूल सौन्दर्य पर ही अपनी राग-रंजित आँखें बिछा देते हैं, वे मधुरतम श्रेष्ठ कवि हो सकते हैं पर 'रहस्यवादी' कवि नहीं।

'वर्तमान हिन्दी कविता' में रहस्यवाद की संज्ञा 'प्रसाद' जी के शब्दों में है--"अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य द्वारा अहं (आत्मा) का इदम् (जगत्) से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बन कर इसमें सम्मिलित है।"

इस तरह के रहस्यवाद को सूफी भावना के अन्तर्गत ले सकते हैं, जिसमें 'ससीम' में 'असीम' का आरोप किया जाता है। विरह-वेदना सूफी-काव्य की आत्मा है।

---

१. "गगन मण्डल के बीच में, जहाँ सोहंगम डोरि।
सबद अनाहद होत है, सुरत लगी तहँ मोरि॥" —कबीर

अपनी भावनाओं को स्थूल (सीमा) पर आधारित कर भी यदि किसी रचना में कवि का लक्ष्य 'परोक्ष' के प्रति नहीं है, तो हम उसे रहस्यवादी काव्य नहीं कहेंगे। अब प्रश्न उठता है—क्या रहस्यवादी काव्य का आलम्बन सीधी 'परोक्ष सत्ता' हो सकती है ? इस सम्बन्ध में स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल का मन्तव्य विचारणीय है—"हृदय का अव्यक्त और अगोचर से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। प्रेम, अभिलाषा, जो कुछ प्रकट किया जायगा वह व्यक्त और गोचर ही के प्रति होगा। प्रतिबिंबवाद, कल्पनावाद आदि वादों का सहारा लेकर इन भावों को अव्यक्त और अगोचर के प्रति कहना और अपने काल्पनिक रूप-विधान को ब्रह्म या पारमार्थिक सत्ता की अनुभूति बताना, काव्य-क्षेत्र में एक अनावश्यक आडम्बर खड़ा करना है।" आचार्य, हृदय के राग का 'अव्यक्त' आलम्बन स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं—"उपासना जब होगी तब 'व्यक्त' और 'सगुण' की ही होगी; 'अव्यक्त' और 'निर्गुण' की नहीं। 'ईश्वर' शब्द ही सगुण और विशेष का द्योतक है, निर्गुण और निर्विशेष का नहीं।"

ऊपर हमने निर्गुण, सूफी और सगुण रहस्यवादियों की चर्चा की है। इन तीन वादियों में व्यावहारिक दृष्टि से सूफी और सगुणवादियों में अन्तर नहीं है। दोनों अपने हृदय के राग को 'व्यक्त' पर ही आधारित करते हैं। अब रह गए निर्गुणवादी-अद्वैतवादी। वे भी अपनी हृदय-भावना को एकदम अव्यक्त पर नहीं जमाते। उन्हें लौकिक प्रतीक ढूँढने ही पड़ते हैं। कबीर कहते हैं—

हरि मेरो पिउ हम हरि की बहुरिया।

अनुभूति को व्यक्त करने के लिए आत्मवादी को भी अपने से बाहर देखना पड़ता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि काव्य में रहस्य-भावना सर्वथा अदृष्टावलम्बित नहीं रहती। अभिव्यक्ति के लिए उसे 'व्यक्त' का आधार ग्रहण करना पड़ता है, जो प्रतीकात्मक हो सकता है। रहस्यवादी रचना को पहचानने के लिए हमें कवि की मूल भावना की तह में जाना आवश्यक होता है। केवल अनन्त, अन्तरिक्ष, क्षितिज, असीम आदि शब्दों को देख कर ही उसे रहस्यावलम्बी नहीं मान लेना चाहिए। कभी-कभी मनुष्य 'इस अवनी' के 'कोलाहल' से ऊब कर भी मन की ऐसी अवस्था चाहता है, जो सांसारिक सुख-दुःखों से परे हो जाय। 'प्रसाद' ने ले चल वहाँ भुलावा देकर, मेरे नाविक ! धीरे धीरे। (लहर) में ऐसी ही कामना की है। उन्होंने ऐसे लोक में जाना चाहा है, जहाँ एकान्त हो और कानों में निश्छल प्रेम का संगीत झरता हो, जिसमें विभोर हो, जीवन अपनी सांसारिक क्लांति को खो सके। इस मायामय चंचल विश्व में 'उसी' का ऐश्वर्य व्यापक रूप से छाया हुआ दीख पड़े, जिससे सुख-दुःख दोनों समान समझ

पड़ें—दोनों ही सत्य जान पड़ें; हम दोनों से समान सुख अनुभव कर सकें। ऐसे लोक में श्रम और विश्राम में विरोध न हो, वहाँ किसी का जीवन केवल 'श्रम-ही-श्रम' न हो और न कोई केवल 'विश्राम' ही का सुख लूटता हो और वह लोक ऐसा हो, जहाँ जागृति ही का सतत प्रकाश फैलता रहता हो।

इस रचना में हमे कवि की अदृष्ट लोक की (चाहे वह मानसिक ही हो) कल्पना मिलती है। हम ऐसा कहीं संकेत नहीं पाते कि कवि को वह 'लोक' मिल गया है—वह अपनी 'साधना' से वहाँ पहुँच गया है। परन्तु 'लहर' में प्रकाशित **उस दिन जब जीवन के पथ में** शीर्षक रचना से हमें ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने अन्तर्मुख होकर वह रहस्य जान लिया है। जब साधक अपने ही में अनन्त रस का सागर लहराता हुआ अनुभव करता है तब वह मधु-भिक्षा की रटन अधर में लेकर घर-घर भटकने की आवश्यकता नहीं समझता। पर कवि की यह भावना—अपने ही अन्तर के रस में भीगे रहने की प्रवृत्ति—क्या स्थायित्व लाभ कर सकी है? यदि कोई 'सत्य' किसी को मिल जाता है और उस पर उसकी आस्था जम जाती है तो वह फिर उसी में अपने को केन्द्रित कर उसी की तान भरता है—उसी को प्रतिध्वनित करता है। परन्तु हम देखते हैं, 'प्रसाद' के मन में आत्मसत्य की एक क्षणिक लहर ही उठी थी, वह फैल कर 'सागर' नहीं बन सकी। अन्यथा चारों ओर 'मधु-मंगल की वर्षा' की अनुभूति ही उन्हें विकम्पित करती रहती। 'विषाद' उनके जीवन को आच्छादित न कर सकता।

अतएव रचना की केवल 'आकृति' (Form) को देखकर ही उस 'वस्तु' की आध्यात्मिक प्रेरणा की कल्पना न कर लेनी चाहिए। हमें देखना चाहिए कि काव्य का रूप (आकृति) कवि के आन्तरिक जीवन से स्पन्दन ग्रहण कर रहा है या केवल बुद्धि का विलास है। आधुनिक रहस्यवादी रचनाओं में बुद्धि का विलास (Intellectual exercise) ही अधिक पाया जाता है। उनमें 'क्रोचे' के मतानुसार 'आकृति' को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है, क्योंकि उससे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है और वह निश्चय ही बाह्य-सौन्दर्य है। प्राचीन रहस्यवादियों ने आकृति पर ध्यान नहीं दिया, उन्होंने 'वस्तु' को—'तथ्य' को—'भावसत्य' को—ही प्रधानता दी, क्योंकि वे तो उस 'सत्य' को अपनी 'वाणी' से नीचे 'प्राणों' में उतार चुके थे। अतः 'अटपटे शब्दों में' भी उनकी अनुभूति की अभिव्यक्ति सहज मधुर हो सकी और हमें हिला सकी।

यहाँ यह आग्रह नहीं है कि रहस्य-भावना सच्चे साधु-संतों के हृदय में ही तरंगित हो सकती है, पर यह ठीक है कि उसका स्थायित्व उन्हीं में रह सकता है, जिनकी वृत्तियाँ सचमुच उसी भावना में रँग चुकी हैं। यों, प्रायः मनुष्य

के हृदय में—चाहे उसका जीवन किसी भी नैतिक धरातल पर स्थित हो—ऐसे क्षण कभी-कभी अवश्य आते हैं जब वह अन्तर्मुख हो किसी अदृष्ट सत्ता के प्रति आसक्ति-सी अनुभव करता है। ऐसे व्यक्ति यदि कलाकार या कवि होते हैं, तो अपनी इस अनुभूति को व्यक्त कर देते हैं, पर चूँकि उनकी अनुभूति क्षणिक होती है इसलिए उनकी अभिव्यक्ति भी अधूरी और धुँधली होती है। 'प्रसाद' में ऐसी अनुभूति की कभी-कभी लहर-सी उठती दीख पड़ती है—पर जब उस अनुभूति की केवल कामना भर उनके मन में होती है, तब हमें उस कामना को ही रहस्य-भावना नहीं समझ लेनी चाहिए।

रहस्यवाद की चर्चा के साथ छायावाद का भी प्रायः उल्लेख किया जाता है। परन्तु यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो छायावाद कोई 'वाद' नहीं बन सका। उसके पीछे कोई दार्शनिक या परम्पराजन्य भूमि नहीं दिखाई देती। उसे हम काव्य की एक शैली कह सकते हैं।

छायावाद को हम काव्य की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति कह सकते हैं। उसमें 'जीवात्मा की दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपने शान्त और निश्चल सम्बन्ध की चेष्टा' मात्र नहीं पाई जाती; स्थूल सौन्दर्य के प्रति मानसिक आकर्षण के उच्छ्वास भी अंकित देखे जा सकते हैं। इस तरह छायावाद के लिए अलौकिक सत्ता के प्रकाशन की आवश्यकता नहीं है। उसमें व्यष्टि की कोई अभावजनित अन्तर्व्यथा भी झलक सकती है और बाह्य प्रकृति के प्रति आसक्ति भी।

द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक (matter of fact) रचनाओं की रूक्षता की प्रतिक्रिया के रूप में जब आभ्यन्तर भावों का विशेष ढंग से प्रकटीकरण होने लगा, तब उसमें नवीनता देख उसे 'छायावाद' की संज्ञा दी गई।[1] उसमें शब्द-योजना और छन्द-विन्यास में रीतिकाल के काव्य की अपेक्षा निश्चय ही वैचित्र्य पाया जाने लगा। 'छायावाद' की रचनाओं में 'भावों की नवीनता' की अपेक्षा, भावों को व्यक्त करने की कला में नवीनता अवश्य थी। और कवि की दृष्टि भी 'बाह्य जगत्' से हट कर 'भीतर' ही रमने लगी—और जब वह अन्तर्मुखी हुई, तो उसने बाह्य जगत् को भी अपने ही में प्रतिबिम्बित कर लिया। यदि एक वाक्य में कहें तो कह सकते हैं कि वे सब रचनाएँ जो अन्त-

---

१. छायावाद को आचार्य शुक्ल बंगाली और अंग्रेजी प्रभाव-प्रसूत मानते हैं, जो पूर्ण नहीं, अर्ध-सत्य कहा जा सकता है। यह 'वाद' अपने युग-परिस्थितियों का परिणाम कहा जा सकता है। 'प्रसाद' पर अंग्रेजी प्रभाव की कल्पना भी नहीं होनी चाहिए।

वृत्ति निरूपक हैं, 'छायावाद' के अन्तर्गत आ जाती हैं।[1] अतः रहस्यवादी रचनाएँ भी, जो अन्तर्वृत्ति निरूपक होती हैं, 'छायावाद' शैली की कृतियाँ कहला सकती हैं। उसमें निराली अभिव्यक्ति का लावण्य दिखाई देता है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मानव अनुभूति को 'छायावाद' कहलाने के लिए 'स्वच्छन्द छन्द' में ही चित्रित होना चाहिए। हाँ, निरालापन लाने के लिए शब्द और अर्थ की स्वाभाविक वक्रता छायावाद का विशिष्ट गुण अवश्य है। इसलिए 'छायावाद' की रचना में शब्दों की अभिधा की अपेक्षा लक्षणा और व्यञ्जना शक्ति से अधिक काम लिया जाता है। आचार्य शुक्लजी के शब्दों में 'छायावाद' का सामान्यतः अर्थ हुआ 'प्रस्तुत के स्थान पर उनकी व्यञ्जना करने वाली छाया के रूप मे अप्रस्तुत का कथन।' 'छायावाद' ही प्रतीक-पद्धति या चित्र-भाषा शैली भी कहलाती है।

'प्रसाद' भी 'छायावाद' को काव्य की एक अभिव्यक्ति विशेष ही मानते हैं। वे लिखते हैं—"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषतायें हैं। अपने भीतर से मोती की तरह अन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमय होती है।"

'प्रसाद' तथा कतिपय अन्य समीक्षक 'छायावाद' को काव्य की एक शैली मानते हैं, और उस शैली के निश्चित तत्त्व भी निर्धारित करते हैं। वे हृदय से स्वभावतः झरनेवाले भावों की अभिव्यक्ति मात्र को ही 'छायावाद' के अन्तर्गत नहीं मानते। प्रत्युत अभिव्यक्ति में, वक्रता, प्रतीकात्मकता भी आवश्यक समझते हैं; पर स्व० केशवप्रसाद मिश्र का मत है कि 'छायावाद' की रचना के लिए "हृदय में केवल वेदना ही चाहिए। वह स्वयं अभिव्यक्ति का मार्ग ढूंढ़ लेती है।" मिश्रजी की यह व्याख्या उस समय प्रकाशित हुई थी, जब हिन्दी में द्विवेदी-युग की इति-वृत्तात्मक कविता की प्रतिक्रियास्वरूप कवि अन्तर्मुख हो रहे थे। उस समय अन्तर्मुखी रचना को ही 'छायावाद' कहा जाता था। उसके 'आलम्बन' की ओर ध्यान नहीं जाता था। वक्रतामयी अभिव्यक्ति भी आवश्यक गुण नहीं मानी जाती थी।

---

१. 'छायावाद' शब्द को अर्थशून्य समझ कर इन पंक्तियों के लेखक ने अन्तर्वृत्ति निरूपक रचनाओं को सन् १९२८ से हृदयवाद के नाम से पुकारना कर दिया था

तभी एक ओर जहाँ—

हे मेरे प्रभु व्याप्त हो रही, है तेरी छवि त्रिभुवन में।
तेरी ही छवि का विकास है, कवि की बानी में, मन में।

—रामनरेश त्रिपाठी

जैसी पंक्तियाँ (जिनमें परमात्मा को लक्ष्य कर 'कुछ' लिखा गया है) छायावाद की रचनाओं के उदाहरणस्वरूप की जाती थीं, वहाँ स्व० सुभद्रा-कुमारी की यह अभिधामूलकर चना भी, जिसमें लौकिक प्रेम-रस छलछला रहा है, 'छायावाद' की रचना समझी जाती रही है—

तुम मुझे पूछते हो, जाऊँ? क्या जवाब दूँ तुम्हीं कहो!
'जा·····' कहते रुकती है जबान किस मुँह से तुमसे कहूँ रहो?
सेवा करना था जहाँ मुझे कुछ भक्ति-भाव दरसाना था।
उन कृपा-कटाक्षों का बदला, बलि होकर जहाँ चुकाना था।
मैं सदा रूठती ही आई, प्रिय! तुम्हें न मैंने पहचाना।
वह मान बाण सा, चुभता है, अब देख तुम्हारा यह जाना।

'छायावाद' की रचना के लिए न तो 'आलम्बन' विशेष का बन्धन था और न अभिव्यक्ति की प्रणाली ही आवश्यक थी। जिसमें 'हृदय' के राग की छाया दीख पड़ती, वही 'छायावाद' की रचना समझी जाती थी। हम 'छायावाद' को 'हृदयवाद' का पर्याय मानते हैं। अतएव उसकी व्यापकता को स्वीकार कर उन सभी रचनाओं को छायावाद के अन्तर्गत लेते हैं; जिनमें आन्तरिक अनुभूति प्रतिध्वनित होती है। साथ ही जब हम 'छायावाद' को एक काव्य की शैली-विशेष भी कहते हैं, तब हमें अनुभूति की अभिव्यक्ति में निरालापन भी दिखाई देना चाहिए। यह 'निरालापन' कई रूप धारण कर सकता है।[1] सरल भाषा में अर्थ-गाम्भीर्य भर और प्रतीकात्मक भाषा में भाव सूक्ष्मता का आभास प्रस्तुत कर हमें कला-सौन्दर्य से विमुग्ध बना सकता है। अतः 'छायावाद' की रचना के लिए निम्न दो बातें आवश्यक हैं :—

---

१. संस्कृत में कुंतक 'वक्रोक्तिजीवितम्' में अभिव्यक्ति के बाँकेपन—निरालेपन में काव्य की आत्मा को प्रतिपादित करते हैं। छायावाद-युग में अभिव्यञ्जना पर कवियों का अधिक आग्रह रहा। इस युग के कवि चाहे कुंतल से प्रभावित न हुए हों, पर क्रोचे के 'अभिव्यञ्जनावाद' ने उन्हें अवश्य प्रभावित किया। क्रोचे के अभिव्यञ्जना की चर्चा लेखक ने अपने 'दृष्टिकोण' में की है।

१. रचना को आन्तरिक अनुभूतिमय होना चाहिए, और २. रचना की अभिव्यक्ति में 'निरालापन' होना चाहिए। यह निरालापन शब्दों की किसी भी 'शक्ति' से प्राप्त किया जा सकता है।

'प्रसाद' की अधिकांश रचनाएँ 'छायावाद' की उक्त व्याख्या के अन्तर्गत आती हैं। उनकी रहस्य-संकेतात्मक रचनाओं की 'छायावाद'-शैली ही है। प्रायः 'प्रतीकों' और लक्षणा के सहारे ही उन्होंने अपनी अन्तर्भावनाओं को प्रकाशित किया है। इसकी चर्चा आगे विस्तार के साथ की जायगी। ●

प्रगतिवाद और 'प्रसाद'

आधुनिक हिन्दी काव्य-सरिता की चौथी मोड़ भी 'प्रसाद' के जीवन-काल में स्पष्ट दिखाई देने लगी थी। जिस प्रकार द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रियास्वरूप रहस्यवाद और छायावाद का प्राबल्य हुआ उसी प्रकार रहस्यवाद और छायावाद की स्वर्गिक कल्पनाओं और मधु-संकेतों के अतिरेक ने दृश्य जगत् की ओर कलाकार की दृष्टि केन्द्रित की। सन् १९३५-३६ से यह प्रवृत्ति व्यापक रूप धारण करने लगी। व्यक्ति के रुदन, अभिसार से वह आँख मीचने लगा। आसमान से ओस पत्तों पर बिखर कर अब मोती नहीं बनतीं; 'मोती' बनते हैं खेतों-खलिहानों में कृषक-किशोरी के कपोलों पर झलकने वाले स्वेद-कण। कल साहित्यकार में समाज समाया हुआ था, आज समाज में साहित्यकार समा गया है। कल का वह दृश्य जब 'खय्याम' का कवि किसी तरु-तले लेटा शीतल समीरण के हलके-हलके झोंके खा 'साकी' की अधखुली आँखों से 'आसव' के प्याले की प्रतीक्षा में रह-रह सिहर उठता था, आज उसे नहीं भाता। वह अपने चारों ओर की वस्तु-स्थिति को खुली आँखों से देखना चाहता है, बुद्धि से समझना चाहता है और उसे आज के अनुकूल बनाने का हल खोजना चाहता है। उसकी 'भीतर' से 'बाहर' झाँकने की इस चेष्टा को ही 'प्रगतिवाद' कहा जाता है—जो परिचित शब्द यथार्थवाद के अधिक निकट है। 'प्रसाद' ने इस प्रकार के साहित्य की चर्चा इन शब्दों में की है—'वेदना से प्रेरित होकर' जन-साधारण के अभाव और वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है। इस दशा में प्रायः सिद्धान्त बन जाता है कि हमारे दुःख और कष्टों के कारण प्रचलित नियम और सामाजिक रूढ़ियाँ हैं। फिर तो अपराधों के मनोवैज्ञानिक विवेचन के द्वारा यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न होता है कि वे सब समाज के कृत्रिम पाप हैं। अपराधियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न कर सामाजिक परिवर्तन के सुधार का आरम्भ साहित्य में होने लगता है। इस प्रेरणा में आत्म-निरीक्षण और शुद्धि का प्रयत्न होने पर भी व्यक्ति के पीड़न, कष्ट और अपराधों से समाज को परिचित कराने का प्रयत्न भी होता है और यह सब व्यक्ति वैचित्र्य से प्रभावित होकर पल्लवित होता है। स्त्रियों के सम्बन्ध में नारीत्व की दृष्टि ही प्रमुख होकर मातृत्व से उत्पन्न हुए सब सम्बन्धों को तुच्छ कर देती है। वर्तमान युग की ऐसी प्रवृत्ति है। जब मानसिक विश्लेषण के इस नग्न रूप में मनुष्यता पहुँच जाती है तब

उन्हीं सामाजिक बन्धनों की बाधा घातक समझ पड़ती है और इन बन्धनों को कृत्रिम और अवास्तविक माना जाने लगा है।

एक मराठी आलोचक का मत है—"वाङ्मय में समाजवाद, साम्यवाद, राजनीति आदि विषयों को देख कर लोग चौंकते हैं, परन्तु इसमें चौंकने की बात ही क्या है ? हमारा जीवन और हमारी सामाजिक परिस्थितियाँ राजनीतिक गुत्थियों से इतनी सम्बद्ध हैं कि हमारे साहित्य में राजनीतिक समस्याएँ आयेंगी ही, समाजवाद आयेगा ही। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जिस रचना में लाल झण्डा, कुदाली-फावड़ा है, वही प्रगतिशील साहित्य है। प्रगतिशील साहित्य में वास्तववाद का चित्र खिंच आना चाहिये। परिस्थिति को चित्रित करनेवाला साहित्य ही जीवित रहेगा।"

प्रगतिवादी साहित्यकारों के विभिन्न दृष्टिकोणों को पढ़ने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि अभी वे अपने 'वाद' को स्पष्ट रूप-रेखा नहीं खींच सके; वे यथार्थवाद और आदर्शवाद में से किसी एक को ही अपनाने में झिझकते हैं। अतएव अपने विचारों को इस तरह उलझी हुई भाषा में रखते हैं कि जिससे वे अपने को यथार्थवादी और आदर्शवादी दोनों कह सकें। वे अपना दार्शनिक आधार 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' मानते हैं। अतएव हमें सबसे पहिले 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' को ही समझने का प्रयत्न करना चाहिये।

यह 'वाद' (Dialectical materialism) मार्क्स ने अपने गुरु हीगल के दर्शन-तत्त्वों के विरोध से निर्मित किया है। मार्क्स अपनी आयु के पच्चीस वर्ष तक हीगल को देवता के समान पूजता था। वह उसकी आकर्षण-शक्ति पर बेहद मुग्ध था, उसमें दैवी आभा देख कर आत्मविभोर हो उठता था, पर धीरे-धीरे उसे हीगल की सम्मोहन-शक्ति से विरक्ति हो गई; उसके 'दर्शन' को 'शराबी की कल्पना-तरंग' कह कर उसने अपने गुरु से लोहा लिया। हीगल जहाँ त्रिगुणातीत ब्रह्म को ही अन्तिम सत्य मानता था, वहाँ मार्क्स 'जड़वाद' ही को सब कुछ समझता था। हीगल के विरुद्ध फॉयरबक ने प्रथम बगावत का झण्डा फहराया। मार्क्स ने हीगल के 'चैतन्य' को ठुकरा दिया, पर उसे देखने की जो हीगल की द्वन्द्वात्मक भूमिका थी, उसको उसने ग्रहण कर लिया; साथ ही फॉयरबक के जड़वाद को अपना कर उसने अपना नया गत्यात्मक या विरोध-विकास-जन्य जड़वाद निर्माण किया।

जहाँ हीगल कहता है कि द्वन्द्व-प्रक्रिया से—संघर्ष से—'चैतन्यमय' विश्व का प्रकटीकरण होता है वहाँ मार्क्स संघर्ष को—द्वन्द्व को किसी परिणाम का कारण तो मानता है-मानता है कि द्वन्द्व से विश्व या सृष्टि का प्रकटीकरण होता

है, पर वह उसमें 'चैतन्य' को सम्मिलित नहीं करता। 'जड़-सृष्टि' के विकास का आशय क्रान्ति है—वह क्रान्ति जो मजदूरशाही को जन्म देती है, मजदूरों का राज्य स्थापित करती है। मजदूरशाही तभी कायम हो सकती है, जब 'बुर्जुआ वर्ग' से संघर्ष लिया जाय और यह संघर्ष 'क्रान्ति' खड़ी कर देने से ही फलदायी हो सकता है।

'क्रान्ति'—संघर्ष—का रूप भीतरी और बाहरी दोनों हो सकता है। वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक स्थिति में क्रान्ति करने के लिए व्यक्तियों के हृदयों में परिवर्तन पैदा किया जा सकता है और उन्हें बल प्रयोग से ध्वस भी किया जा सकता है। आभ्यन्तर परिवर्तन के उद्देश्य से जो क्रान्ति खड़ी की जाती है, उसमें समय लगता है। मार्क्सवाद गांधीवाद की तरह हृदय-परिवर्तन में आस्था नहीं रखता। कल्पना, भावना जैसी कोमल मनोवृत्तियों का उसमें स्थान नहीं है। इसीलिए वह 'बल-प्रयोग' में विश्वास रखता है। मार्क्सवाद 'वस्तु' को उसके बाहरी रूप में ही देखता है।

उसका दृष्टिकोण ही बाह्यात्मक (objective) है, क्योंकि उसका विश्वास है कि 'वस्तु' के ऊहापोह से वस्तु का असली रूप प्रकट नहीं होता, वरन् हमारी ही कल्पना हमारे सामने खड़ी हो जाती है—हम 'वस्तु' में अपना ही रंग भर कर उसे विकृत बना देते है, तभी 'मार्क्सवादी' 'यथार्थवादी' होता है। जो 'मार्क्सवाद' में 'आदर्शवाद' की चर्चा करते हैं, वे उसकी 'दर्शन' नींव को अपने से ओझल रखते हैं। मार्क्स-दर्शन जड़वादी होने के कारण करुणा, नीति या आचारवाद पर विश्वास नहीं रखता। उसमें आध्यात्मिकता (spirituality) का स्वभावतः अभाव है।

मार्क्स का यह दर्शन, जैसा कि कहा जा चुका है, हीगल के तत्त्वज्ञान से 'चैतन्य' को अलग करके ही निर्मित किया गया है। प्रो० लेवी के शब्दों में मार्क्स का यह दृष्टिकोण सर्वथा 'वास्तववादी' है।

कई मार्क्सवादियों का विश्वास है कि साहित्य-कला अपने समय को ही प्रतिबिम्बित करती है। वे यह नहीं मानते कि कलाकार भविष्य का भी स्वप्न देख सकता है; आत्मदर्शन में उनकी आस्था नहीं है। उनका कहना है कि संसार में कला, नीति, विज्ञान आदि का जो विकास दीख रहा है, वह भौतिक परिस्थिति को ही मूल रूप में धारण किए हुए है। अतः समय विशेष की कला आदि के विकास के कारणों को ढूंढने के लिए हमें तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक समस्याओं पर दृष्टिपात करना होगा। परन्तु मार्क्स-

वादियों की 'बाइबिल' 'केपिटल' (अंग्रेजी संस्करण) के भूमिकाकार लिखते हैं कि "मनुष्य आर्थिक उद्देश्य को लेकर ही विकास करता है, यह मार्क्स कहीं नहीं कहता।" उसने तो मानव-उद्देश्यों की चर्चा ही नहीं की।

मार्क्सवादियों को अपने 'वाद' के एकाङ्गीपन का जब अनुभव हुआ तो वे उसका क्रमशः स्पष्टीकरण करने लगे। एंजिल ने अपने एक मित्र के पत्र में लिखा है—"हमारे अनुयायियों ने आर्थिक तत्त्व को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है और इसके लिए मैं और मार्क्स ही जिम्मेदार है।"

"बाह्यकारणों के विद्यमान होते हुए भी हर देश और काल में 'क्रान्ति' क्यों नहीं मच जाती?" की ओर जब मार्क्सवादियों का ध्यान गया, तो उन्हें अपने तत्त्वों की एकांगिता और भी अखर उठी। तब उन्होंने बाहर से जरा भीतर देखना प्रारम्भ किया और इसके लिए उन्होंने 'फ्रायड' का सहारा लिया। मार्क्सवाद में 'फ्रायड' का प्रवेश उसके दायरे की वृद्धि के लिए ही किया गया। आसबोर्न ने कहा भी है कि "यदि 'मार्क्सवाद' की एकांगिता नष्ट करनी है, तो फ्रायड के मानस-तत्त्वों को हमें अपनाना होगा?" फ्रायड का मत है कि समाज-भय से जो वासनायें अतृप्त रहती हैं वे अन्तर्मन पर छायी रहती हैं और वे ही अनेक रूप धारण कर स्वप्न में प्रकट होती है। जब वासनायें असह्य हो उठती हैं, तब मन में अनेक विकृतियाँ पैदा हो जाती हैं। इसलिए व्यक्ति का यदि समुचित विकास अभीष्ट हो तो उसकी वासनाओं की प्यास बढ़ने नहीं देना चाहिए। फ्रायड ने काम-प्रेरणा पर ही जोर दिया है। फ्रायड को यद्यपि मार्क्सवादियों ने आत्मसात् कर लिया है और इस तरह लजाकर जरा अन्तर्मुख होने का प्रयास किया है, परन्तु 'फ्रायड' की अनुसन्धान-दिशा भी भ्रमपूर्ण है; उसने मन की विकृतियों का विश्लेषण तो किया है परन्तु उसमें भी एकांगीपन का दोष आ गया है। स्त्री-पुरुष के आकर्षण में लैङ्गिक विरोध ही कारणीभूत होता है, यह सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है। प्रत्येक पुरुष स्त्री की ओर कामवासना की तीव्रता से ही खिंचता है। इसे पुत्र-माता, भाई-बहिन आदि के हृदयों में बहने वाले अजस्र प्रेम की निर्मलता स्वीकार नही करती। फ्रायडवाद सम्भवतः विकृत (morbid) मन के स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में लागू हो सकता है; स्वस्थ और ध्येयवादी मन का विश्लेषण फ्रायड ने यदि किया होता तो वह सन्तों और साध्वियों की उन अनुभूतियों का कारण ढूंढ सकता था—जो अपने ही में भूले रहते, खिंचे रहते थे।

गगन गरजि बरसै अमी, बादर गहिर गँभीर।
चहुँ दिशि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर॥

'मीरा' अपने किस स्थूल 'पुरुष' के लिए पागल हो गा उठती थी—**मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई** ? वासना-विहीन प्रेम को 'प्लेटेनिक लव' कहते हैं, जिसमें स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध लैंगिक आकर्षण से शून्य रहता है। पर 'मीरा' का प्रेमाधार तो प्रकृत पुरुष भी नहीं है। उसने तो प्लेटो के शब्दों में "प्रेम की उस भूमिका में प्रवेश किया था—जहाँ विरहाकुल आत्मा शाश्वत सौन्दर्य-प्रकाश में लीन हो जाती है।"

फ्रायड ने रोगी-मन का विश्लेषण कर जो मनोविज्ञान के तथ्य प्रस्तुत किए, उनसे आत्मप्रेरणा, आत्मानुभव तथा आत्मसाक्षात्कार की गुत्थियाँ नहीं हल होतीं। यदि फ्रायड के तत्त्वों को मान लिया जाय, तो हमारा सारा 'सन्त साहित्य' केवल 'बुद्धि की कसरत' ही रह जाता है; पार्थिव सम्बन्ध के अतिरिक्त भी हमारी एक आकांक्षा है—हमारे मन के अन्तरतम से बद्ध एक सूत्र है, जो अदृश्य होते हुए भी हमें खींचता है। हम बाह्य द्वन्द्व-संघर्ष से ऊब-थक कर उससे हटना चाहते हैं; क्षण भर अपने में ही खो जाना चाहते हैं। कभी-कभी भौतिक सुखों के बीच भी, रह-रहकर भीतर से अज्ञात टीस-सी जगने लगती है। रवि बाबू के शब्दों में—"विरह-रोदन रह-रहकर कानों में प्रविष्ट होने लगता है।" इस तरह मनुष्य का भौतिक और आध्यात्मिक (बाहरी और भीतरी) दो प्रकार का जीवन स्पष्ट है। हमारी संस्कृति मनुष्य के एकमात्र भौतिक जीवन की कल्पना कर ही नहीं सकती। योरप में भी विचारक अब कहने लगे हैं कि "युद्ध-पश्चात् का योरप चाहे जो रूप धारण करे, पर सच्चा परिवर्तन तभी सम्भव होगा जब हम आध्यात्मिक तत्त्वों को अपना लेंगे।"

यहाँ एक प्रश्न और विचारणीय है। वह यह कि क्या मार्क्स ने साहित्य-कला की कोई विवेचना की है? नहीं, कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो (साम्यवादी विज्ञप्ति) मे केवल यही कहा गया है कि "आज तक जो धन्धे प्रतिष्ठित समझे जाते थे; जिनका आदरमय आतंक से उल्लेख किया जाता था, उन्हें 'बुर्जुआ वर्ग' ने श्री-हीन बना दिया है। डॉक्टर, वकील, धर्माचार्य, कवि और वैज्ञानिक उसके इशारे पर नाचने वाले 'भाड़ैती' (मजदूर) बने हुए हैं।" बुद्धिजीवियों पर एक व्यंग्य मात्र किया था और उस समय क्रान्ति को सफल बनाने के लिए उसे ऐसे प्रचार-साहित्य की आवश्यकता भी थी, जिसमें शोषक-सम्प्रदाय को हतप्रभ बनाया जाय। उसके इस 'बकोटे' ने काम जरूर किया, पर उससे जो साहित्य निर्मित हुआ, वह अधिकांश प्रचार श्रेणी का ही रहा। इसका आभास ट्राट्स्की के इन शब्दों में मिल जाता है—"साहित्यकार श्रमजीवी संस्कृति, श्रमजीवी कला की पुकार तो मचाते हैं पर उनकी दस बातों में से तीन बातें